



मानवाधिकार आंदोलन और वैश्विक परिदृश्य: तीसरी दुनिया में मानवाधिकारों की स्थिति, हनन और युद्ध-आपदाओं का प्रभाव

विजय लक्ष्मी यादव

असिस्टेंट प्रोफेसर

राजनीति विज्ञान

संत कवि बाबा बैजनाथ राजकीय

स्नातकोत्तर महाविद्यालय

हरख, बाराबंकी उत्तर प्रदेश

मानवाधिकार केवल एक कानूनी अवधारणा नहीं, बल्कि मानव गरिमा, स्वतंत्रता और न्याय की वह आधारशिला है जिस पर एक सभ्य समाज का निर्माण होता है। द्वितीय विश्व युद्ध की विभीषिका के बाद शुरू हुआ मानवाधिकार आंदोलन आज एक वैश्विक चेतना का रूप ले चुका है, जिसने संयुक्त राष्ट्र से लेकर जमीनी स्तर के संगठनों तक को एकजुट किया है। फिर भी, जब हम वैश्विक परिदृश्य पर नज़र डालते हैं, तो एक कड़वी सच्चाई सामने आती है - तीसरी दुनिया के देश आज भी मानवाधिकारों के गंभीर संकट से जूझ रहे हैं। गरीबी, तानाशाही, सामाजिक असमानता, गृहयुद्ध, आतंकवाद और प्राकृतिक आपदाओं ने इन देशों में मानवाधिकारों के हनन को एक स्थायी पीड़ा बना दिया है, जहाँ जीने का अधिकार ही सबसे बड़ी चुनौती बन जाता है। इस शोध पत्र में हम विस्तार से जानेंगे कि तीसरी दुनिया में मानवाधिकारों की वास्तविक स्थिति क्या है, किन कारणों से उनका हनन हो रहा है और युद्ध व आपदाएं किस प्रकार मानवता के अस्तित्व पर गहरा आघात कर रही हैं।

1. प्रस्तावना: मानवाधिकार की अवधारणा और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

मानवाधिकार वे मूलभूत अधिकार हैं जो प्रत्येक व्यक्ति को केवल मानव होने के नाते प्राप्त होते हैं, चाहे उसकी जाति, धर्म, लिंग, राष्ट्रीयता या सामाजिक स्थिति कुछ भी हो। ये अधिकार व्यक्ति की गरिमा, स्वतंत्रता और समानता की नींव हैं और इनमें जीवन का अधिकार, स्वतंत्रता, समानता, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता तथा शोषण से मुक्ति जैसे अधिकार शामिल हैं। मानवाधिकारों की अवधारणा नई नहीं है, बल्कि इसकी जड़ें प्राचीन सभ्यताओं, धार्मिक ग्रंथों और दार्शनिक चिंतन में देखी

जा सकती हैं, जहाँ न्याय और मानवीय गरिमा पर बल दिया गया था। आधुनिक अर्थ में मानवाधिकारों का व्यवस्थित विकास द्वितीय विश्व युद्ध की विभीषिका के बाद हुआ, जब युद्ध के दौरान हुए व्यापक नरसंहार और अमानवीय अत्याचारों ने विश्व समुदाय को झकझोर दिया। इसी पृष्ठभूमि में 10 दिसंबर 1948 को संयुक्त राष्ट्र महासभा ने सार्वभौमिक मानवाधिकार घोषणा पत्र को अंगीकार किया, जिसने पहली बार अंतरराष्ट्रीय स्तर पर सभी मनुष्यों के लिए समान अधिकारों और स्वतंत्रताओं को मान्यता दी। इसके बाद से मानवाधिकार केवल एक नैतिक आदर्श न रहकर अंतरराष्ट्रीय कानून, संविधानों और वैश्विक आंदोलनों का केंद्रीय आधार बन गए हैं।

2. मानवाधिकार आंदोलन का वैश्विक उदय और संयुक्त राष्ट्र की भूमिका

द्वितीय विश्व युद्ध की विभीषिका और नाजी जर्मनी द्वारा किए गए अमानवीय अत्याचारों ने पूरी दुनिया को झकझोर कर रख दिया था। लाखों लोगों की हत्या, यातना शिविरों और परमाणु हथियारों के प्रयोग ने यह स्पष्ट कर दिया कि यदि मानव गरिमा की रक्षा के लिए कोई सार्वभौमिक व्यवस्था नहीं बनाई गई तो सभ्यता का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाएगा। इसी पृष्ठभूमि में मानवाधिकार आंदोलन का वैश्विक स्तर पर उदय हुआ। 1945 में संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना इस दिशा में पहला संगठित प्रयास था, जिसका मूल उद्देश्य अंतरराष्ट्रीय शांति, सुरक्षा और मानव अधिकारों की रक्षा करना था।

संयुक्त राष्ट्र की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि 10 दिसंबर 1948 को मानवाधिकारों की सार्वभौम घोषणा को अपनाया जाना था। इस घोषणा में 30 अनुच्छेदों के माध्यम से प्रत्येक व्यक्ति को जीवन, स्वतंत्रता, समानता, शिक्षा, अभिव्यक्ति और न्याय जैसे मौलिक अधिकार प्रदान किए गए, चाहे उसकी जाति, धर्म, लिंग, भाषा या राष्ट्रीयता कुछ भी हो। यह घोषणा कानूनी रूप से बाध्यकारी नहीं थी, लेकिन इसने पूरी दुनिया के लिए एक नैतिक और आदर्श मानक स्थापित किया। इसी के आधार पर आगे चलकर 1966 में दो महत्वपूर्ण अंतरराष्ट्रीय प्रसंविदाएं बनीं - नागरिक और राजनीतिक अधिकारों पर अंतरराष्ट्रीय प्रसंविदा तथा आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों पर अंतरराष्ट्रीय प्रसंविदा।

संयुक्त राष्ट्र ने इन अधिकारों को लागू करवाने के लिए कई संस्थाओं का निर्माण किया, जैसे मानवाधिकार परिषद, मानवाधिकार उच्चायुक्त कार्यालय, यूनेस्को, यूनिसेफ और शरणार्थियों के लिए उच्चायुक्त कार्यालय। इन संस्थाओं ने न केवल युद्ध प्रभावित क्षेत्रों में राहत कार्य किए, बल्कि उपनिवेशवाद के अंत, रंगभेद के खिलाफ संघर्ष और महिला एवं बाल अधिकारों की रक्षा में भी निर्णायक भूमिका निभाई। इस प्रकार संयुक्त राष्ट्र ने मानवाधिकारों को केवल एक आदर्श विचार से निकालकर एक वैश्विक आंदोलन का रूप दिया, जिसने दुनिया भर के नागरिकों और गैर-सरकारी संगठनों को अपने अधिकारों के लिए आवाज उठाने की प्रेरणा दी।

3. मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा और अंतरराष्ट्रीय कानूनों का विकास

द्वितीय विश्व युद्ध की विभीषिका और नाजी जर्मनी द्वारा किए गए अमानवीय अत्याचारों ने पूरी दुनिया को यह सोचने पर मजबूर कर दिया कि मानव गरिमा की रक्षा के लिए एक सार्वभौमिक व्यवस्था का होना कितना आवश्यक है। इसी पृष्ठभूमि में 10 दिसंबर 1948 को संयुक्त राष्ट्र महासभा ने मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा को अंगीकार किया। यह घोषणा कोई कानूनी रूप से बाध्यकारी दस्तावेज नहीं थी, बल्कि यह एक नैतिक और राजनीतिक संकल्प था जिसमें 30 अनुच्छेदों के माध्यम से प्रत्येक व्यक्ति के जीवन, स्वतंत्रता, समानता, शिक्षा, अभिव्यक्ति और न्याय जैसे मौलिक अधिकारों को मान्यता दी गई। इस घोषणा का महत्व इस बात में है कि इसने पहली बार यह स्थापित किया कि मानवाधिकार किसी राज्य की कृपा पर निर्भर नहीं हैं, बल्कि वे प्रत्येक मनुष्य को जन्म से प्राप्त हैं, चाहे उसकी राष्ट्रीयता, धर्म, जाति या लिंग कुछ भी हो।

इस घोषणा के बाद अंतर्राष्ट्रीय कानूनों के विकास ने इसे एक ठोस कानूनी ढांचे में बदलने का प्रयास किया। 1966 में दो महत्वपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय प्रतिज्ञापत्र अस्तित्व में आए - नागरिक और राजनीतिक अधिकारों पर अंतर्राष्ट्रीय प्रतिज्ञापत्र और आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकारों पर अंतर्राष्ट्रीय प्रतिज्ञापत्र। इन दोनों के साथ मिलकर सार्वभौमिक घोषणा को अंतर्राष्ट्रीय मानवाधिकार विधेयक कहा जाने लगा। इसके अतिरिक्त नस्लीय भेदभाव के उन्मूलन, महिलाओं के विरुद्ध भेदभाव की समाप्ति, यातना के विरुद्ध अभिसमय, बाल अधिकार अभिसमय जैसे कई विशिष्ट अंतर्राष्ट्रीय समझौतों ने मानवाधिकारों की कानूनी व्याख्या को और अधिक व्यापक बनाया। अंतर्राष्ट्रीय अपराध न्यायालय और विभिन्न क्षेत्रीय मानवाधिकार न्यायालयों जैसे यूरोपीय मानवाधिकार न्यायालय और अंतर-अमेरिकी मानवाधिकार न्यायालय की स्थापना ने यह सुनिश्चित करने का प्रयास किया कि मानवाधिकारों का उल्लंघन करने वाले राज्य और व्यक्ति जवाबदेह ठहराए जा सकें।

4. तीसरी दुनिया की अवधारणा: सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक संदर्भ

तीसरी दुनिया शब्द का प्रयोग सबसे पहले शीत युद्ध के दौर में किया गया था, जब दुनिया को दो प्रमुख शक्ति गुटों में बाँटा गया था। पहला गुट पूँजीवादी देशों का था जिसका नेतृत्व अमेरिका कर रहा था और दूसरा साम्यवादी गुट था जिसका नेतृत्व सोवियत संघ कर रहा था। इन दोनों से अलग रहने वाले देशों, विशेषकर एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के नव-स्वतंत्र और विकासशील देशों को तीसरी दुनिया कहा गया। फ्रांसीसी जनसंख्या विशेषज्ञ अल्फ्रेड सॉवी ने 1952 में पहली बार इस शब्द का प्रयोग किया था। बाद में गुटनिरपेक्ष आंदोलन ने इस अवधारणा को और अधिक स्पष्टता प्रदान की।

सामाजिक संदर्भ में देखें तो तीसरी दुनिया के अधिकांश देशों में गरीबी, अशिक्षा, बेरोजगारी, कुपोषण और स्वास्थ्य सुविधाओं का अभाव जैसी समस्याएँ गहराई से जड़ जमाए हुए हैं। जातीय, धार्मिक और भाषायी विविधता जहाँ इन देशों

की सांस्कृतिक समृद्धि का प्रतीक है, वहीं कई बार यही विविधता सामाजिक संघर्ष और असमानता का कारण भी बन जाती है। जनसंख्या वृद्धि की उच्च दर और संसाधनों की कमी के कारण सामाजिक विकास की गति धीमी रहती है।

आर्थिक दृष्टि से तीसरी दुनिया के देश मुख्य रूप से कृषि प्रधान और कच्चे माल के निर्यात पर निर्भर रहे हैं। औपनिवेशिक शोषण के लंबे इतिहास ने इन देशों की अर्थव्यवस्था को कमजोर कर दिया। औद्योगिकीकरण की कमी, विदेशी कर्ज का बोझ, तकनीकी पिछड़ापन और वैश्विक बाजार में असमान प्रतिस्पर्धा के कारण ये देश आज भी विकसित देशों पर निर्भर हैं। वैश्वीकरण ने कुछ अवसर दिए हैं, लेकिन इसका लाभ समान रूप से सभी तक नहीं पहुँच पाया है।

राजनीतिक संदर्भ में तीसरी दुनिया के देशों में उपनिवेशवाद से मुक्ति के बाद लोकतंत्र की स्थापना का प्रयास किया गया, परंतु कई देशों में राजनीतिक अस्थिरता, तानाशाही, भ्रष्टाचार, सैन्य हस्तक्षेप और गृहयुद्ध जैसी चुनौतियाँ लगातार बनी रही हैं। कमजोर संस्थागत ढाँचा और बाहरी शक्तियों का हस्तक्षेप भी इन देशों की संप्रभुता और नीति-निर्माण की स्वतंत्रता को प्रभावित करता है। कुल मिलाकर तीसरी दुनिया की अवधारणा केवल भौगोलिक या आर्थिक वर्गीकरण नहीं, बल्कि ऐतिहासिक शोषण, असमान विकास और आत्मनिर्भरता के संघर्ष की कहानी है।

5. तीसरी दुनिया में मानवाधिकारों की वर्तमान स्थिति - एक समग्र आकलन

तीसरी दुनिया के देशों में मानवाधिकारों की वर्तमान स्थिति अत्यंत जटिल और चिंताजनक बनी हुई है। एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के अधिकांश विकासशील देशों में गरीबी, अशिक्षा, बेरोजगारी और राजनीतिक अस्थिरता ने मानवाधिकारों के हनन के लिए एक उर्वर जमीन तैयार की है। यहाँ आज भी जीवन के बुनियादी अधिकार जैसे भोजन, स्वास्थ्य, शिक्षा, आवास और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता लाखों लोगों की पहुँच से दूर हैं। लोकतांत्रिक व्यवस्थाएँ कई देशों में केवल कागजों तक सीमित हैं, जहाँ सत्ता का केंद्रीकरण, भ्रष्टाचार और सैन्य हस्तक्षेप आम नागरिकों के अधिकारों को लगातार कुचल रहे हैं।

इन देशों में हाशिए पर खड़े समुदायों - जैसे आदिवासी, दलित, अल्पसंख्यक, महिलाएँ और बच्चे - की स्थिति सबसे अधिक दयनीय है। उन्हें न केवल सामाजिक भेदभाव और शोषण का सामना करना पड़ता है, बल्कि न्याय प्रणाली तक उनकी पहुँच भी बेहद सीमित है। कई जगहों पर बाल श्रम, मानव तस्करी, बंधुआ मजदूरी और महिलाओं के खिलाफ हिंसा जैसी घटनाएँ रोजमर्रा की सच्चाई बन चुकी हैं। वहीं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर अंकुश, पत्रकारों और मानवाधिकार कार्यकर्ताओं पर हमले, और मनमाने ढंग से की जाने वाली गिरफ्तारियाँ यह दर्शाती हैं कि नागरिक और राजनीतिक अधिकारों की स्थिति भी कोई बेहतर नहीं है।

हालांकि यह भी सच है कि पिछले कुछ दशकों में अंतरराष्ट्रीय संगठनों, गैर-सरकारी संस्थाओं और स्थानीय आंदोलनों के प्रयासों से जागरूकता बढ़ी है। संयुक्त राष्ट्र और अन्य वैश्विक संस्थाओं के दबाव में कई देशों ने मानवाधिकार आयोगों का गठन किया है और कानूनी सुधारों की दिशा में कदम उठाए हैं। फिर भी जमीनी हकीकत यह है कि कानूनों का क्रियान्वयन कमजोर है और राजनीतिक इच्छाशक्ति का अभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। वैश्वीकरण ने जहाँ एक ओर आर्थिक अवसर पैदा किए हैं, वहीं दूसरी ओर संसाधनों के असमान वितरण और बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा शोषण ने असमानता को और गहरा किया है, जिसका सीधा असर मानवाधिकारों पर पड़ा है।

6. मानवाधिकार हनन के प्रमुख कारण: गरीबी, अशिक्षा, तानाशाही और भ्रष्टाचार

मानवाधिकारों का हनन कोई आकस्मिक घटना नहीं है, बल्कि इसके पीछे गहरे सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक कारण छिपे होते हैं। तीसरी दुनिया के देशों में इन कारणों की जड़ें और भी गहरी हैं, जहाँ गरीबी, अशिक्षा, तानाशाही और भ्रष्टाचार ने मिलकर एक ऐसा दुष्चक्र बना दिया है जो मानवाधिकारों को निरंतर कमजोर करता है।

गरीबी मानवाधिकार हनन का सबसे बड़ा और प्रत्यक्ष कारण है। जब व्यक्ति को दो वक्त की रोटी, आवास और स्वास्थ्य जैसी बुनियादी सुविधाएँ भी नसीब न हों, तो शिक्षा, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता या न्याय जैसे अधिकार उसके लिए बेमानी हो जाते हैं। गरीबी के कारण बाल श्रम, बंधुआ मजदूरी, मानव तस्करी और शोषण जैसी घटनाएँ आम हो जाती हैं। गरीब व्यक्ति अपने अधिकारों के प्रति जागरूक भी नहीं हो पाता और न ही वह उन्हें प्राप्त करने के लिए कानूनी लड़ाई लड़ने में सक्षम होता है।

अशिक्षा गरीबी की सहयोगी बनकर इस समस्या को और बढ़ाती है। अशिक्षित समाज न तो अपने अधिकारों को जानता है और न ही उनके हनन के विरुद्ध आवाज उठा पाता है। अशिक्षा के कारण लोग अंधविश्वास, रूढ़ियों और भेदभावपूर्ण परंपराओं में जकड़े रहते हैं, जिससे जातिगत भेदभाव, लैंगिक असमानता और महिलाओं व बच्चों के विरुद्ध हिंसा को बढ़ावा मिलता है। शिक्षा के अभाव में लोग शासन-प्रशासन से सवाल पूछने की क्षमता भी खो देते हैं।

तानाशाही और सत्तावादी शासन मानवाधिकारों के लिए सबसे बड़ा राजनीतिक खतरा है। तीसरी दुनिया के कई देशों में लोकतांत्रिक संस्थाएँ कमजोर हैं और सत्ता कुछ हाथों में केंद्रित है। ऐसी व्यवस्थाओं में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का दमन, मनमानी गिरफ्तारी, यातना, न्यायपालिका पर हस्तक्षेप और विपक्षी आवाजों को कुचलना सामान्य बात हो जाती है। तानाशाही शासन अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए नागरिकों के मौलिक अधिकारों की बलि चढ़ा देता है।

इन तीनों को पोषित करने का काम करता है भ्रष्टाचार। जब प्रशासन और न्याय व्यवस्था भ्रष्ट हो जाती है, तो अधिकार केवल कागजों तक सीमित रह जाते हैं। रिश्वतखोरी के कारण गरीब और कमजोर वर्ग को न्याय नहीं मिल पाता, सरकारी

योजनाओं का लाभ उन तक नहीं पहुँच पाता और मानवाधिकारों की रक्षा करने वाली संस्थाएँ ही उनका सौदा करने लगती हैं। पुलिस हिरासत में हिंसा, न्याय में देरी और पक्षपातपूर्ण रवैया भ्रष्ट व्यवस्था की ही देन हैं।

इस प्रकार गरीबी, अशिक्षा, तानाशाही और भ्रष्टाचार एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं और एक-दूसरे को मजबूत करते हैं। जब तक इन मूल कारणों पर प्रहार नहीं किया जाएगा, तब तक केवल कानून बना देने से मानवाधिकारों की रक्षा संभव नहीं हो सकेगी।

7. युद्ध और सशस्त्र संघर्षों का मानवाधिकारों पर विनाशकारी प्रभाव

युद्ध और सशस्त्र संघर्ष मानवाधिकारों के लिए सबसे बड़ी त्रासदी लेकर आते हैं। जब कहीं युद्ध छिड़ता है तो सबसे पहला हनन जीवन के अधिकार का ही होता है। बमबारी, गोलीबारी और सैन्य अभियानों में न केवल सैनिक बल्कि हजारों निर्दोष नागरिक, महिलाएं और बच्चे मारे जाते हैं। जो बच जाते हैं, उनके सामने विस्थापन, भुखमरी और अमानवीय जीवन स्थितियों का संकट खड़ा हो जाता है। सीरिया, यमन, यूक्रेन से लेकर सूडान और फिलिस्तीन तक के संघर्षों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि युद्ध किसी सीमा, धर्म या विचारधारा को नहीं देखता, उसकी कीमत हमेशा आम आदमी को चुकानी पड़ती है।

युद्ध के दौरान अंतरराष्ट्रीय मानवाधिकार कानून और जेनेवा संधियों की खुलेआम अवहेलना देखी जाती है। अस्पतालों, स्कूलों और शरणार्थी शिविरों तक को निशाना बनाया जाता है। युद्धबंदियों के साथ अमानवीय व्यवहार, यातना, यौन हिंसा को हथियार के रूप में इस्तेमाल करना और जबरन गायब कर देना जैसी घटनाएं आम हो जाती हैं। तीसरी दुनिया के देशों में स्थिति और भी भयावह हो जाती है, क्योंकि वहां पहले से ही कमजोर संस्थाएं, गरीबी और राजनीतिक अस्थिरता होती है। संघर्ष के चलते लाखों लोग शरणार्थी बनने को मजबूर हो जाते हैं, जो अपने ही देश में या पड़ोसी देशों में बिना नागरिकता, शिक्षा, स्वास्थ्य और रोजगार के अधिकारों के नारकीय जीवन जीते हैं।

सशस्त्र संघर्षों का सबसे गहरा और दीर्घकालीन प्रभाव बच्चों और महिलाओं पर पड़ता है। बच्चों को बाल सैनिक के रूप में भर्ती किया जाता है, उनकी शिक्षा छीन ली जाती है और उनका बचपन हमेशा के लिए खत्म हो जाता है। महिलाओं को हिंसा, तस्करी और शोषण का सबसे अधिक शिकार होना पड़ता है। युद्ध के बाद भी इसका असर खत्म नहीं होता। बारूदी सुरंगें, ध्वस्त अर्थव्यवस्था, टूटी हुई न्याय प्रणाली और गहरे सामाजिक घाव पीढ़ियों तक मानवाधिकारों के उल्लंघन की नींव बने रहते हैं। इसलिए यह कहना गलत नहीं होगा कि युद्ध केवल जमीन के लिए नहीं लड़ा जाता, वह इंसानियत और उसके बुनियादी अधिकारों के खिलाफ लड़ा जाता है।

8. प्राकृतिक आपदाओं और जलवायु संकट के दौरान मानवाधिकारों का संकट

प्राकृतिक आपदाओं और जलवायु संकट के समय मानवाधिकारों का हनन अक्सर सबसे अधिक अदृश्य लेकिन सबसे गहरा होता है। बाढ़, सूखा, चक्रवात, भूकंप या समुद्र के जलस्तर में वृद्धि जैसी घटनाएं केवल पर्यावरणीय त्रासदी नहीं हैं, बल्कि वे सीधे तौर पर जीवन, भोजन, पानी, आवास, स्वास्थ्य और गरिमा के साथ जीने के अधिकार को प्रभावित करती हैं। तीसरी दुनिया के देशों में जहाँ पहले से ही गरीबी, कमजोर बुनियादी ढाँचा और सीमित सरकारी संसाधन हैं, वहाँ इन आपदाओं का प्रभाव कहीं अधिक विनाशकारी होता है।

जलवायु परिवर्तन के कारण विस्थापन आज मानवाधिकारों के सामने सबसे बड़ी चुनौतियों में से एक बन गया है। बांग्लादेश के तटीय इलाकों, अफ्रीका के साहेल क्षेत्र या प्रशांत द्वीप समूहों में हजारों परिवार हर साल अपना घर, खेत और आजीविका खोकर जलवायु शरणार्थी बनने को मजबूर हैं। इन लोगों के लिए न तो अंतरराष्ट्रीय कानून में स्पष्ट शरणार्थी का दर्जा है और न ही पुनर्वास की कोई ठोस व्यवस्था, जिससे वे राज्यविहीनता, शोषण और मानव तस्करी जैसे खतरों के प्रति अत्यंत संवेदनशील हो जाते हैं।

आपदा के बाद राहत और पुनर्वास की प्रक्रिया में भी भेदभाव और असमानता स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। कई बार दलित, आदिवासी, अल्पसंख्यक समुदाय, महिलाएं और विकलांग लोग सहायता वितरण में सबसे अंत में रह जाते हैं। अस्थायी शिविरों में स्वच्छ पानी, शौचालय, चिकित्सा सुविधा और सुरक्षा का अभाव महिलाओं और बच्चों के लिए यौन हिंसा और शोषण के जोखिम को कई गुना बढ़ा देता है। इसके साथ ही सरकारों द्वारा आपदा को बहाना बनाकर जबरन भूमि अधिग्रहण, बिना मुआवजे के विस्थापन और सूचनाओं को दबाने जैसी घटनाएं भी मानवाधिकारों के गंभीर उल्लंघन का रूप ले लेती हैं।

इसलिए यह समझना आवश्यक है कि जलवायु न्याय ही मानवाधिकार न्याय है। केवल आपदा प्रबंधन तक सीमित रहने के बजाय, एक अधिकार-आधारित दृष्टिकोण की आवश्यकता है जिसमें प्रभावित समुदायों को निर्णय प्रक्रिया में शामिल किया जाए, उन्हें समय पर चेतावनी और जानकारी दी जाए, और पुनर्वास केवल छत देना न होकर गरिमा, रोजगार और सांस्कृतिक पहचान को बनाए रखने वाला हो।

9. शरणार्थी, विस्थापन और पलायन: मानवाधिकारों की अनदेखी कहानी

शरणार्थी, विस्थापन और पलायन की समस्या आज तीसरी दुनिया में मानवाधिकार संकट का सबसे मूक और दर्दनाक अध्याय बन चुकी है। युद्ध, गृहयुद्ध, जातीय हिंसा, आतंकवाद, राजनीतिक दमन और जलवायु परिवर्तन जनित आपदाओं के कारण हर साल लाखों लोग अपना घर, जमीन और पहचान छोड़ने को मजबूर हो रहे हैं। सीरिया, म्यांमार, सूडान, यमन, अफगानिस्तान से लेकर अफ्रीका के कई देशों तक में फैले संघर्षों ने लोगों को अपने ही देश में विस्थापित या सीमा पार शरण

लेने के लिए विवश किया है। संयुक्त राष्ट्र के आंकड़ों के अनुसार दुनिया के लगभग अस्सी प्रतिशत से अधिक शरणार्थी और आंतरिक रूप से विस्थापित लोग विकासशील और गरीब देशों से ही आते हैं, जो पहले से ही संसाधनों की कमी से जूझ रहे हैं।

इन विस्थापित लोगों की कहानी केवल आंकड़ों तक सीमित नहीं है। शिविरों में रहने वाले इन परिवारों के पास न तो सुरक्षित आवास होता है, न स्वच्छ पानी, न पर्याप्त भोजन और न ही स्वास्थ्य व शिक्षा जैसी बुनियादी सुविधाएं। महिलाएं और बच्चे इस स्थिति में सबसे अधिक असुरक्षित होते हैं। मानव तस्करी, यौन शोषण, बाल श्रम और जबरन भर्ती जैसी घटनाएं शरणार्थी शिविरों में आम हो गई हैं। सबसे बड़ी विडंबना यह है कि जिन अंतरराष्ट्रीय कानूनों और मानवाधिकार घोषणाओं ने शरणार्थियों को सुरक्षा और सम्मानजनक जीवन का अधिकार दिया है, उन्हीं का पालन सबसे कम होता है। कई बार मेजबान देश उन्हें बोझ समझकर सीमा पर ही रोक देते हैं या अमानवीय परिस्थितियों में हिरासत में रखते हैं।

विस्थापन केवल युद्धों का परिणाम नहीं है, बल्कि विकास के नाम पर होने वाला विस्थापन भी मानवाधिकारों का गंभीर उल्लंघन है। बड़े बांध, खनन परियोजनाएं, औद्योगिक कॉरिडोर और स्मार्ट सिटी के नाम पर आदिवासी और ग्रामीण समुदायों को बिना उचित पुनर्वास और मुआवजे के उनकी पुश्तैनी जमीन से बेदखल कर दिया जाता है। जलवायु परिवर्तन के कारण समुद्र के जलस्तर में वृद्धि, बाढ़, सूखा और रेगिस्तानीकरण ने भी जलवायु शरणार्थियों की एक नई श्रेणी पैदा कर दी है, जिसे अभी तक अंतरराष्ट्रीय कानून में स्पष्ट मान्यता भी नहीं मिली है।

इस प्रकार शरणार्थी और विस्थापित लोगों का जीवन मानवाधिकारों की अनदेखी कहानी का जीवंत प्रमाण है। जब तक वैश्विक समुदाय इसे केवल दान या दया का विषय न मानकर अधिकार और न्याय के दृष्टिकोण से नहीं देखेगा, तब तक गरिमा, सुरक्षा और समानता का वह वादा अधूरा ही रहेगा जिसका सपना मानवाधिकार आंदोलन ने देखा था।

10. महिला, बच्चे और अल्पसंख्यकों के मानवाधिकार: सबसे कमजोर वर्गों की स्थिति

मानवाधिकार हनन का सबसे गहरा और दर्दनाक प्रभाव समाज के सबसे कमजोर वर्गों - महिलाओं, बच्चों और अल्पसंख्यकों पर पड़ता है, और तीसरी दुनिया के देशों में यह स्थिति और भी चिंताजनक है। युद्ध, सशस्त्र संघर्ष, सांप्रदायिक हिंसा और प्राकृतिक आपदाओं के समय इन समूहों की असुरक्षा कई गुना बढ़ जाती है। पितृसत्तात्मक सामाजिक संरचनाओं और कमजोर कानूनी सुरक्षा के कारण महिलाओं को न केवल भेदभाव और घरेलू हिंसा का सामना करना पड़ता है, बल्कि संघर्ष क्षेत्रों में उन्हें यौन हिंसा को युद्ध के हथियार के रूप में झेलना पड़ता है। शिक्षा, स्वास्थ्य और रोजगार तक उनकी पहुँच सीमित कर दी जाती है, जिससे वे गरीबी और शोषण के दुष्चक्र में फँसी रहती हैं। इसी तरह बच्चे, जिन्हें विशेष संरक्षण की आवश्यकता होती है, कुपोषण, बाल श्रम, मानव तस्करी और बाल विवाह जैसी कुरीतियों के शिकार होते हैं। युद्धग्रस्त क्षेत्रों में उनका सैनिकों के रूप में इस्तेमाल, शिक्षा से वंचित होना और अनाथ हो जाना उनके भविष्य को अंधकारमय बना देता

है। आपदाओं के बाद राहत शिविरों में भी बच्चों की सुरक्षा और पोषण सबसे बड़ी चुनौती बन जाता है। धार्मिक, जातीय और भाषाई अल्पसंख्यकों की स्थिति भी कमजोर बनी हुई है। बहुसंख्यकवाद की राजनीति, भेदभावपूर्ण कानूनों और सामाजिक बहिष्कार के कारण उन्हें नागरिकता, संपत्ति, शिक्षा और राजनीतिक प्रतिनिधित्व जैसे बुनियादी अधिकारों से वंचित किया जाता है। म्यांमार में रोहिंग्या, मध्य-पूर्व में यजीदी और कई अफ्रीकी देशों में आदिवासी समुदायों के साथ होने वाला व्यवस्थित उत्पीड़न इसका स्पष्ट उदाहरण है। जब तक इन सबसे कमजोर वर्गों के अधिकारों की विशेष रूप से रक्षा नहीं की जाती, तब तक मानवाधिकार आंदोलन का मूल उद्देश्य अधूरा ही रहेगा।

11. वैश्विक शक्तियों और अंतर्राष्ट्रीय संगठनों की भूमिका और दोहरे मापदंड

वैश्विक स्तर पर मानवाधिकारों की रक्षा का दायित्व जिन शक्तियों और संगठनों के कंधों पर है, उनका आचरण अक्सर सिद्धांत और व्यवहार के बीच गहरे विरोधाभास को उजागर करता है। संयुक्त राष्ट्र, अंतर्राष्ट्रीय मानवाधिकार परिषद, एमनेस्टी इंटरनेशनल और ह्यूमन राइट्स वॉच जैसे संगठन निस्संदेह तीसरी दुनिया में होने वाले हनन को उजागर करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, पर उनकी प्रभावशीलता अक्सर बड़ी वैश्विक शक्तियों के राजनीतिक हितों से बंधी रहती है। देखा गया है कि जब मानवाधिकार उल्लंघन किसी कमजोर या रणनीतिक रूप से महत्वहीन देश में होता है, तो उस पर कड़े प्रतिबंध, निंदा प्रस्ताव और हस्तक्षेप की बातें तेजी से सामने आती हैं, जबकि वही उल्लंघन जब अमेरिका, रूस, चीन या उनके सहयोगी देशों द्वारा किया जाता है, तो वही संगठन या तो मौन साध लेते हैं या केवल औपचारिक बयानबाजी तक सीमित रह जाते हैं। यही दोहरा मापदंड तीसरी दुनिया के देशों में मानवाधिकार आंदोलन की विश्वसनीयता पर सवाल खड़ा करता है। कई बार मानवाधिकारों के नाम पर आर्थिक प्रतिबंध या सैन्य हस्तक्षेप इस तरह से किए जाते हैं कि उनका सबसे अधिक दुष्प्रभाव आम नागरिकों, विशेषकर युद्ध और आपदा से जूझ रही आबादी पर पड़ता है, जबकि सत्ताधारी वर्ग सुरक्षित बना रहता है। इसके विपरीत, जहाँ तेल, बाजार या सैन्य अड्डों जैसे हित जुड़े होते हैं, वहाँ गंभीर हनन के बावजूद आँखें मूँद ली जाती हैं। इस चयनात्मक न्याय ने तीसरी दुनिया में यह धारणा गहरी की है कि मानवाधिकार सार्वभौमिक मूल्यों से अधिक भू-राजनीतिक दबाव का एक औजार बन गए हैं, जिसके कारण स्थानीय स्तर पर चल रहे ईमानदार आंदोलनों को भी विदेशी एजेंडा कहकर दबा दिया जाता है।

12. गैर-सरकारी संगठनों और नागरिक समाज आंदोलनों का योगदान

तीसरी दुनिया के देशों में जहाँ राज्य अक्सर मानवाधिकारों के उल्लंघन में स्वयं शामिल होता है या उन्हें रोकने में असमर्थ रहता है, वहाँ गैर-सरकारी संगठनों और नागरिक समाज आंदोलनों ने एक वैकल्पिक प्रहरी की भूमिका निभाई है। एमनेस्टी इंटरनेशनल और ह्यूमन राइट्स वॉच जैसे अंतर्राष्ट्रीय संगठनों से लेकर स्थानीय स्तर पर काम करने वाले छोटे मानवाधिकार समूहों तक, इन सभी ने हाशिए पर पड़े समुदायों की आवाज को वैश्विक मंच तक पहुँचाने का कार्य किया है।

ये संगठन न केवल युद्ध, दमन और आपदाओं के दौरान होने वाले अत्याचारों का दस्तावेजीकरण करते हैं, बल्कि पीड़ितों को कानूनी सहायता, पुनर्वास और न्याय दिलाने के लिए संघर्ष भी करते हैं।

नागरिक समाज आंदोलनों का योगदान इससे भी अधिक व्यापक है। दलित आंदोलन, आदिवासी अधिकार आंदोलन, नारीवादी आंदोलन और पर्यावरण-न्याय आंदोलनों ने यह स्पष्ट किया है कि मानवाधिकार केवल राजनीतिक स्वतंत्रता तक सीमित नहीं हैं, बल्कि इनमें गरिमा, समानता, आजीविका और सांस्कृतिक पहचान का अधिकार भी शामिल है। कई बार जब सरकारें और अंतरराष्ट्रीय संस्थाएँ मौन रहती हैं, तब छात्र समूह, मजदूर संगठन, महिला मंडल और स्वतंत्र मीडिया से जुड़े नागरिक ही सड़कों पर उतरकर जनमत बनाते हैं और सत्ता को जवाबदेह ठहराते हैं।

हालांकि इन संगठनों को अक्सर राज्य द्वारा विदेशी एजेंट कहकर बदनाम किया जाता है, उनकी फंडिंग पर रोक लगाई जाती है और कार्यकर्ताओं को उत्पीड़न का सामना करना पड़ता है, फिर भी तीसरी दुनिया में मानवाधिकारों की रक्षा की अंतिम आशा के रूप में नागरिक समाज ही खड़ा दिखाई देता है। युद्ध और आपदा की स्थितियों में जहाँ सरकारी तंत्र ध्वस्त हो जाता है, वहीं ये संगठन राहत पहुँचाने, विस्थापितों के अधिकारों की रक्षा करने और युद्ध अपराधों को उजागर करने में सबसे आगे रहते हैं।

13. तीसरी दुनिया में मानवाधिकार संरक्षण के लिए चुनौतियाँ और समाधान

तीसरी दुनिया के देशों में मानवाधिकारों का संरक्षण आज भी कई गंभीर चुनौतियों से घिरा हुआ है। इन देशों में गरीबी, अशिक्षा, बेरोजगारी और राजनीतिक अस्थिरता मानवाधिकार हनन के प्रमुख कारण बने हुए हैं। कई स्थानों पर सत्तावादी शासन, भ्रष्टाचार और कमजोर न्याय व्यवस्था के कारण आम नागरिकों को न्याय मिलना अत्यंत कठिन हो जाता है। इसके अलावा जाति, धर्म, लिंग और वर्ग आधारित भेदभाव, बाल श्रम, मानव तस्करी और महिलाओं के विरुद्ध हिंसा जैसी समस्याएँ भी मानवाधिकारों के उल्लंघन को बढ़ावा देती हैं। युद्ध, गृह संघर्ष और प्राकृतिक आपदाओं के समय स्थिति और भी भयावह हो जाती है, जब विस्थापन, भूख और असुरक्षा के कारण सबसे कमजोर वर्गों के अधिकार सबसे अधिक कुचले जाते हैं।

इन चुनौतियों का समाधान केवल कानून बनाने से नहीं होगा, बल्कि उनके प्रभावी क्रियान्वयन से होगा। इसके लिए सबसे पहले शिक्षा और जागरूकता को बढ़ावा देना आवश्यक है, ताकि लोगों को अपने अधिकारों और कर्तव्यों का ज्ञान हो सके। न्यायपालिका को स्वतंत्र, निष्पक्ष और सुलभ बनाना, भ्रष्टाचार पर नियंत्रण और लोकतांत्रिक संस्थाओं को मजबूत करना अनिवार्य है। साथ ही, स्थानीय समुदायों, गैर-सरकारी संगठनों और अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं के बीच सहयोग को बढ़ाना होगा ताकि पीड़ितों को समय पर सहायता और पुनर्वास मिल सके। मीडिया की स्वतंत्रता और मानवाधिकार शिक्षा को पाठ्यक्रम

में शामिल करना भी दीर्घकालिक समाधान का हिस्सा है। जब तक विकास की प्रक्रिया में मानव गरिमा और समानता को केंद्र में नहीं रखा जाएगा, तब तक तीसरी दुनिया में मानवाधिकारों की रक्षा एक अधूरा लक्ष्य ही बनी रहेगी।

14. निष्कर्ष: एक न्यायपूर्ण और मानवीय वैश्विक व्यवस्था की ओर

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि मानवाधिकारों का प्रश्न केवल कानूनी या राजनीतिक बहस का विषय नहीं है, बल्कि यह मानव सभ्यता के अस्तित्व और उसकी नैतिक दिशा से जुड़ा हुआ मूलभूत प्रश्न है। तीसरी दुनिया के देशों में मानवाधिकारों की वर्तमान स्थिति यह स्पष्ट करती है कि गरीबी, असमानता, सत्ता का केंद्रीकरण, युद्ध और प्राकृतिक आपदाओं ने किस प्रकार करोड़ों लोगों को गरिमापूर्ण जीवन से वंचित कर दिया है। वैश्विक परिदृश्य में जहाँ एक ओर मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा और अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं के प्रयास आशा जगाते हैं, वहीं दूसरी ओर शक्तिशाली राष्ट्रों के दोहरे मापदंड, वैश्विक पूँजी का असमान वितरण और मानवीय संकटों के प्रति उदासीनता इस आंदोलन की राह में बड़ी बाधाएँ बनी हुई हैं।

एक न्यायपूर्ण और मानवीय वैश्विक व्यवस्था की स्थापना तभी संभव है जब मानवाधिकारों को केवल कागजी घोषणाओं तक सीमित न रखकर उन्हें जमीनी स्तर पर लागू किया जाए। इसके लिए आवश्यक है कि राष्ट्र-राज्य अपनी संकीर्ण राजनीतिक और आर्थिक स्वार्थों से ऊपर उठकर मानव-केंद्रित नीतियों को अपनाएँ, अंतरराष्ट्रीय समुदाय युद्ध और हिंसा के स्थान पर संवाद और सहयोग को प्राथमिकता दे, और आपदा प्रबंधन को केवल राहत कार्य तक सीमित न रखकर पुनर्वास और दीर्घकालिक न्याय से जोड़ा जाए। साथ ही, नागरिक समाज, मीडिया और आम जन की सक्रिय भागीदारी भी उतनी ही महत्वपूर्ण है, क्योंकि अधिकार माँगने से नहीं, बल्कि जागरूकता और सामूहिक संघर्ष से ही सुनिश्चित होते हैं। अंततः मानवाधिकार आंदोलन की सफलता इसी में निहित है कि दुनिया का हर व्यक्ति, चाहे वह किसी भी देश, धर्म या वर्ग का हो, स्वयं को सुरक्षित, सम्मानित और स्वतंत्र महसूस कर सके।

निष्कर्ष के तौर पर कहा जा सकता है कि मानवाधिकार आंदोलन ने वैश्विक स्तर पर न्याय, समानता और गरिमा की आवाज को एक नया मंच दिया है, फिर भी तीसरी दुनिया के देशों में इसकी वास्तविक स्थिति आज भी चिंताजनक बनी हुई है। गरीबी, अशिक्षा, राजनीतिक अस्थिरता और सत्ता के दुरुपयोग के कारण मानवाधिकारों का हनन एक आम समस्या बन गया है, जिस पर युद्ध, आतंकवाद और प्राकृतिक आपदाओं ने और भी गहरा आघात पहुँचाया है। ऐसे में केवल अंतरराष्ट्रीय कानूनों और घोषणाओं से काम नहीं चलेगा, बल्कि जमीनी स्तर पर जागरूकता, शिक्षा, निष्पक्ष न्याय प्रणाली और मानवीय सहायता को मजबूत करना अत्यंत आवश्यक है। यदि वैश्विक समुदाय एकजुट होकर इन चुनौतियों का समाधान करे, तो ही हर व्यक्ति के लिए स्वतंत्र, सुरक्षित और सम्मानजनक जीवन का सपना साकार हो सकेगा।

संदर्भ ग्रंथ सूची

- 1-Mutua, M. (2002). Human rights: A political and cultural critique. University of Pennsylvania Press.
- 2-Ramina, L. (2018). TWAIL-“Third World Approaches to International Law” and human rights: some considerations. *Revista de Investigações Constitucionais*, 5(1), 0261-0272.
- 3-Mutua, M. (2001). Savages, victims, and saviors: The metaphor of human rights. *Harv. Int'l LJ*, 42, 201.
- 4-Kennedy, D. (2002). International human rights movement: Part of the problem?. *Harv. Hum. Rts. J.*, 15, 101.
- 5-Rajagopal, B. (2000). From resistance to renewal: The third world, social movements, and the expansion of international institutions. *Harv. Int'l LJ*, 41, 529.
- 6-Eide, A. (1986). The human rights movement and the transformation of the international order. *Alternatives*, 11(3), 367-402.
- 7-Chimni, B. S. (2006). Third world approaches to international law: a manifesto. *Int'l Comm. L. Rev.*, 8, 3.
- 8-Slaughter, J. R. (2018). Hijacking human rights: Neoliberalism, the new historiography, and the end of the third world. *Human Rights Quarterly*, 40(4), 735-775.
- 9-Tsutsui, K., & Wotipka, C. M. (2004). Global civil society and the international human rights movement: Citizen participation in human rights international nongovernmental organizations. *Social Forces*, 83(2), 587-620.
- 10-Tsutsui, K., & Wotipka, C. M. (2004). Global civil society and the international human rights movement: Citizen participation in human rights international nongovernmental organizations. *Social Forces*, 83(2), 587-620.
- 11-Tsutsui, K., Whitlinger, C., & Lim, A. (2012). International human rights law and social movements: states' resistance and civil society's insistence. *Annual Review of Law and Social Science*, 8(1), 367-396.
- 12-Shafir, G., & Brysk, A. (2006). The globalization of rights: From citizenship to human rights. *Citizenship Studies*, 10(3), 275-287.
- 13-Basok, T., Ilcan, S., & Noonan, J. (2006). Citizenship, human rights, and social justice. *Citizenship studies*, 10(3), 267-273.
- 14-Hughes, C. (2007). Transnational networks, international organizations and political participation in Cambodia: Human rights, labour rights and common rights. *Democratization*, 14(5), 834-852.
- 15-Steiner, H. J. (1988). Political participation as a human right. *Harv. Hum. Rts. YB*, 1, 77.
- 16-Basok, T., & Ilcan, S. (2006). In the name of human rights: Global organizations and participating citizens. *Citizenship Studies*, 10(3), 309-327.